Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education

Vol. XI, Issue No. XXI, April-2016, ISSN 2230-7540, ISSN 2230-7540

आदिवासी समाज में नारी का स्थान एवं संगीत कला संस्कृति

AN INTERNATIONALLY INDEXED PEER REVIEWED & REFEREED JOURNAL

www.ignited.in

Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. XI, Issue No. XXI, April-2016, ISSN 2230-7540

आदिवासी समाज में नारी का स्थान एवं संगीत कला संस्कृति

Dr. Anju Srivastava*

Associate Professor, Department of Sociology, Arya Kanya Degree College, Prayagraj (UP)

सार - सौन्दर्य तथा आनन्द का उपभोग करने तथा उन्हें एक मूत्र्त रूप देने की चिरन्तन अभिलाषा मानव में सदा से ही है। मानव अपने कष्टों को, दुःख और दुर्दशा को उसी में डुबो देना चाहता है, उसे भूल जाना चाहता है। संगीत के स्वर में या नृत्य की ताल में वह विभोर हो जाता है, सब-कुछ भूल जाता है। संगीत तथा नृत्य में मानव-जीवन का हास-उल्लास सभी-कुछ व्यक्त है। इसी कारण संगीत तथा नृत्य की उत्पत्ति उसी दिन से है जिस दिन मानव ने हँसना और रोना सीखा है, विभिन्न मुद्राओं के माध्यम से अपने मन को अभिव्यक्त करना जान लिया है।

----------X----------

आदिकालीन समाज में तो संगीत तथा नृत्य का और भी अधिक महत्त्व है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आदिम समाजों में मानव की जीवन अति संघर्षपूर्ण हैं उनहें अपनी जीविका-पालन हेतु कठोर पश्रिम करना पड़ता है। उस कठोर परिश्रम के दौरान परिश्रम के भार को सहन करने के लिए तथा परिश्रम के बाद थकावट को भूलने के लिए संगीत तथा नृत्य का महत्त्व वास्तव में अत्यधिक है। यह देखा गया है कि कठिन-से-कठिन काम के दौरान अगर नाचते-गाते हुए उस काम को किया जाए तो वह काम वास्तव में बहुत सरल प्रतीत होने लगता है और काम करने वले निरन्तर नए उत्साह को प्राप्त करते जाते हैं। हो सकता है इसलिए भी आदिमानव में काम करते-करते गाना गाने का एक रिवाज-सा देखने को मिलता है। आदिम समाजों में ही नहीं बल्कि भारत के गाँवों में भी स्त्रियाँ खेत में काम करते अथवा चक्की में कुछ पीसते समय बहुधा गीत गाती रहती हैं। इसी प्रकार नाव खेते हुए मल्लाहों का गीत विशेषतः बंगाल के लोक-गीत की एक अमूल्य सम्पदा है। साथ ही, संगीत तथा नृत्य का एक और महत्त्व यह है। कि इसके द्वारा त्यौहार, मेल-मिलाप, धार्मिक अनुष्ठान तथा मेले के अवसरों पर अपनी खुशियों को सरलता से व्यक्त किया जा सकता है। इन अवसरों पर नाचने गाने वाले के लिए जिस प्रकार संगीत व नृत्य अपने उल्लास को व्यक्त करने का एक उत्तम साधन बन जाता है, उसी प्रकार उन्हें देखने व सुनने वालों के लिए वे मनोरंजन का एक साधन हैं। इस प्रकार संगीत तथा नृत्य के कलाकार तथा दर्शक के बीच एक आत्मिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जो सामाजिक नियंत्रण, संगठन व एकता सभी के लिए परम उपयोगी सिद्ध होता है।

जिस प्रकार खाने-पीने की समस्या मानव को व्याकुल करती है, उसी प्रकार सौन्दर्य और आनन्द का उपभोग करने के लिए भी वह छटपटाता है। यह तो सच है कि जीवन-धारण के लिए अर्थात् जीवित हरने के लिए खाने पीने की चाजों की अत्यधिक आवश्यकता है, परन्तु यह भी सच है कि जीवित रहने के लिए केवल ये चीजें ही पर्याप्त नहीं हैं। खाने-पीने की चीजें तो 'शरीर' की खुराक हैं; शरीर की खुराक के अलावा भी मानव को अपने 'मन' की खुराक भी जुटानी पड़ती है।

संगीत की उत्पत्ति मानव की उस अभिलाषा के फलस्वरूप हुई जिसके कारण वह सौन्दर्य तथा आनन्द को एक मूत्र्त रूप देना चाहता है। सौन्दर्य तथा आनन्द को कई प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसके लिए सर्वप्रथम तो भाषा की आवश्यकता होती है। चूंकि पशुओं के पास भाषा नहीं है इस कारण उनमें संगीत का विकास भी नहीं हो पाया है। मानव अपने मन की भावना को भाषा के माध्यम से व्यक्त कर सकता है और करता है। इस भाषा के साथ मन की भावना भी आवश्यक है। मन की भावना को जब छन्द रूप में प्रस्तुत किया जाता है तब उसे कविता कहते हैं। कविता संगीत का वह कच्चा माल है जिससे संगीतकार, संगीत को बनाता है। कविता को ही जब नियमानुसार ताल (melody) तथा सुर (melody) के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है तब उसी को संगीत कहते हैं। इस ताल तथा सुर को नियमित तथा निर्देशित करने के लिए नाना प्रकार के संगीत-यन्त्रों या वाद्य-यन्त्रों (Musical instruments) की सहायता ली जाती है। संगीत की उत्पत्ति तभी हुई जब मनुष्य

www.ignited.in

को इन सबको एकसाथ मिलाकर प्रस्तुत करने का ज्ञान प्राप्त हुआ होगा।

ताल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्री बूचर (Bucher) का मत है कि इसकी उत्पत्ति मानव के रोज के अनुभव से ही सम्भव है। आदिमानव ने यह देखा कि काम करते हुए निश्चित समय के बाद आवाज द्वारा या शरीर की गति द्वारा जोर देने से परिश्रम का दबाव बँट जाता है। और काम सरल हो जाता हैं इसका कारण यह है कि बराबर समय छोड़कर आवाज या शारीरिक गति द्वारा जोर देने पर परिश्रम का दबाव शरीर या मन पर बोझ नहीं बन जाता और परिश्रम करने की नई स्फूर्ति परिश्रम करने वाले को प्राप्त होती रहती है। एक बार जोर देने के बाद ऐसा लगता है जैसे वह काम नए तौर पर प्रारम्भ किया जा रहा है। इसी कारण काम का बोझ हल्का हो जाता है और वह काम आसान हो जाता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर जब स्वर या आवाज में कुछ निश्चित समय के बाद जोर दिया गया तब संगीत के ताल की उत्पत्ति हुई। श्री बूचर के इस सिद्धान्त को चक्की चलाती हुई स्त्रियों का गीत गाने या नाव खेते हुए मल्लाहों का गीत गाने के आधार पर समझा जा सकता है। ये स्त्रियाँ या मल्लाह गीत क्यों गाते हैं? इसीलिए कि लगातार काम करते जाने पर जल्द ही थक जाने की सम्भावना होती है, परन्तु थोडा-थोडा अन्तर देकर गीत के स्वर पर जोर देने से उनके शरीर को नई स्फूर्ति मिलती रहती है और वे अपने काम को सरलता से कर पाते हैं। श्री वुण्ट (Wundt) ने इस सिद्धान्त को नृत्य के सम्बन्ध में भी लागू किया है। उनके अनुसार नृत्य में भी संगीत की भाँति ताल की आवश्यकता होती है जो थोड़े-थोड़े समय के बाद शरीर की एक गति-विशेष पर जोर देने से उत्पन्न होती है। जोर इसीलिए दिया जाता है कि ऐसा करने पर शरीर का बोझ हल्का हो जाता है और काम सरलता से हो जाता है। परन्तु श्री बोआस (Boas) सर्वश्री बूचर तथा बूण्ट के मत से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपनी रचना को सुन्दर बनाने का प्रयास करता है। किसी भी रचना में अगर बीच-बीच में समान अन्तर दिया जाए तो वह सुन्दर दिखने लगती है। उदाहरणार्थ, अगर आप सुलेख लिख रहे हैं तो प्रत्येक अक्षर के बाद अगर आप समान फासला छोड़ते जाएँ तो वह लेख सुन्दर प्रतीत होगा। किसी चीज को सुन्दर बनाकर हमें प्रसन्नता होती है। इस प्रसन्नता होती है और वह उस प्रसन्नता का उपभोग करने के लिए थोड़े-थोड़ समय बाद अपने स्वर या शरीर-गति पर जोद देता है या क्षण भर के लिए रुक जाता है। यही संगीत या नृत्य का ताल है।

सुर (Melody) के आधार पर ही संगीत श्रुति-मधुर होता है। इस सुर का मुख्य आधार गाने वाले का स्वर या आवाज है जिससे वह संगीत की कथाओं या गीत के शब्दों को अपने मुँह से निकालता हैं स्वर के एक नियमित चढ़ाव-उतार से आनन्दप्रद या आकर्षक ध्वनि (tone) प्रस्तुत करना ही सुर की सृष्टि हैं यह सुर ताल से नियमित तथा नियन्त्रित होता है; तभी संगीत बनता है। अर्थात् ताल और सुर के मेल से संगीत बनता है। सुर की उत्पत्ति आवेग या संवेग से होती है। एक परिस्थिति-विशेष में एक विशिष्टा प्रकार का संवेग मन में उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति के मुँह से एक विशेष प्रकार की ध्वनि निकलती है जो या तो आनन्दप्रद व श्रुति-मधुर होती है या केवल आकर्षक। यह ध्वनि आनन्दप्रद होगी या और कुछ, यह परिस्थिति पर निर्भर करता है। क्योंकि परिस्थिति के अनुसार ही व्यक्ति में एक विशेष संवेग उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, एक धार्मिक अनुष्ठान में व्यक्ति के मुख से जिस प्रकार ध्वनि निकलेगी उस प्रकार की ध्वनि सामाजिक उत्सव में नहीं निकल सकती और जिस प्रकार की ध्वनि इस सामाजिक उत्सव में निकलेगी उस प्रकार की ध्वनि प्रेमिका के वियोग में कभी नहीं निकलेगी। वियोग-व्यथा से पीड़ित संगीत में भी सुर होता है और उल्लास में विभोर संगीत में भी सुर होता है। इस कारण सुर में केवल आनन्दप्रद या श्रुति-मधुर ध्वनि ही होगी, यह कहना गलत होगा। पर सुर श्रुति-कटु नहीं होती है; यह किसी-न-किसी रूप में आकर्षक अवश्य ही होता हैं

श्री कार्ल स्टम्फ (Carl Stumpf) का कहना है सुर की उत्पत्ति पहले-पहल क्रन्दन या रोने से हुई हैं रोने में एक प्रकार की स्वाभाविक ध्वनि निकलती है। यह एक प्रकार की ध्वनि होती है जो सहज ही दूसरे को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। इसी अनुभव से सुर की सृष्टि मनुष्य ने की। विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल आकर्षक ध्वनि की सहायता से गीत के शब्दों को कहना लोगों ने प्रारम्भ किया। यही संगीत है।

ताल-लय व सुर को नियन्त्रित तथा संगीत को और भी आकर्षक बनाने के लिए व्यवहार में लाए जाते हैं। पहले-पहल इनका प्रयोग नहीं किया जाता था, कण्ठ से ही संगीत गाया जाता था। पर धीरे-धीरे नाना प्रकार के वाद्य-यन्त्रों का आविष्कार और संगीत के क्षेत्र में प्रवेश होता गया। आदिम समाजों में आज भी गिने-चुने वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग होता है; परन्तु आधुनिक समाजों में तो संगीत के साथ वाद्य-यन्त्रों का मेल-सा बैठ जाता है। इसके विषय में कुछ विस्तार से लिखने का अवसर हमें आगे मिलेगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संगीत के तीन आवश्यक तत्त्व हैं-ताल, सुर तथा वाद्य-यन्त्र। आदिकालीन मानव के दृष्टिकोण से इन तीनों पर कुछ विचार करना आवश्यक है।

ताल-जैसा हम पहले ही बता चुके हैं, संगीत का सर्वप्रथम तत्त्व ताल है। परन्तु इस ताल का ज्ञान आदिवासियों में उतना सूक्ष्म नहीं है जितना आधुनिक समाज के संगीतकारों में। वर्तमान संगीत मेंएक पद या उसके अंश-विशेष को गाकर ही ताल दे दी

जाती है, परन्तु आदिवासियों के संगीत में इतनी जल्दी ताल नहीं दी जाती है। उनमें ताल काफी रुक-रुक कर देने की रीति है। साथ ही, चूंकि आदिवासियों का ताल-ज्ञान अधिक सूक्ष्म नहीं होता, इस कारण एक बार जिस रूप में ताल दी गई, संगीत के प्रारम्भ से अन्त तक उसी रूप में दी जाएगी, ऐसा कोई नियम नहीं हैं दो ताल के बी समय की दूरी का व्यवधान घटत-बढ़ता रहता है।

सुर-संगीत का दूसरा प्रमुख तत्तव सुर है जो कम-से-कम आदिवासियों के दृष्टिकोण से ताल से अधिक महत्त्वपूर्ण है। सृर की सृष्टि संगीतकार की कण्ठ-ध्वनि से ही होती है। अतः सुर किस प्रकार का होगा, यह पूर्णतया गायक के कण्ठ पर ही निर्भर करता है। कण्ठा का यह सुर अभ्यास द्वारा उत्तमतर किया जा सकता है। आज का गायक इस सम्बन्ध में विशेष रूप से सचेत रहता है और कण्ठ-स्वर को उन्नत करने के लिए निरन्तर प्रयतन करता रहता है। इस प्रयत्न के फलस्वरूप उसका सुर उसके नियंत्रण में रहता है और वह अपनी इच्छानुसार और आवश्यकतानुसार उसे चढ़ा-उतार सकता है या लहरदार बना सकता है। परन्तु आदिवासी कण्ठ-स्वर को अपने नियंत्रण में रखने के लिए उतना अभ्यास नहीं कर पाते और न ही उनके पास उतना समय होता है। पेशेवर गायक आदिवासियों में शायद ही होता है। उनके समाज में सभी को जीविका-पालन के हेतु सदा प्रयत्नशील बना रहना पड़ता है जिसके कारण संगीत का नियमित अभ्यास करना उनके लिए सम्भव नहीं होता। इस कारण आदिवासियों के संगीत में सरु में समता और नियमितता अधिक नहीं होती है। वे उच्च स्वर का प्रयोग अधिक करते हैं।

वर्तमान अंग्रेजी संगीत में अष्टक को बारह सम-भागों में बाँआ जाता है, परन्तु आदिवासियों में इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं है। जावा की जनजातियाँ अष्टक को पाँच सम-भागों में और स्याम की जनजातियाँ इसे सात समभागों में बाँटती हैं। संगीत के लय तथा सुर की निरन्तरता को बनाए रखने के लिए अनेक जनजातियों में निरर्थक शब्दों को जोड़ दिया जाता है। उदाहरणार्थ, हमारे संगीत में त-न-न-न-न, अंग्रेजी में ला-ल-ला को संगीत में सुर का पुट देने के लिए जोड़ा जाता हैं जनजातियों में भी इस प्रकार के अनेक शब्दों को प्रयोग में लाया जाता है।

संगीत का तीसरा आवश्यक तत्त्व वाद्य-यन्त्र हैं। वाद्य-यन्त्रों के दो प्रमुख कार्य होते हैं। प्रथम कार्य तो ताल व सुर को नियन्त्रित और निर्देशित करना और दूसरा सुर को ही प्रकट करना है। वाद्य-यन्त्र स्वयं ही सुर की सृष्टि करते हैं। और गायक उससे कण्ठ मिलाकर गाता जाता है। यह भी हो सकता है। कि गायक का कण्ठ जैसे ध्वनि या सुर को अभिव्यक्त करता है वैसे यन्त्र भी सुर को प्रकट करने लगते हैं। अफ्रीका की कुछ जनजातियाँ ढोल से ऐसी ध्वनि निकलती हैं जो कण्ठ की ध्वनि का अनुकरण करती हैं। ताल देने के लिए भी वाद्य-यन्त्र अत्यधिक सहायक सिद्ध होते हैं जब तक तबला, ढोल, मृदंग आदि ताल देने के यन्त्रों का अविष्कार नहीं हुआ था, तब तक ताली या भूमि पर पैर बजाकर इनसे ताल दी जाती थी।

वाद्य-यन्त्रों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है-डोरी, ताँत या तार से बजने वाले वाद्य-यन्त्र हवा से बजने वाले वाद्य-यन्त्र और चोट लगाकर बजाए जाने वाले वाद्य-यन्त्र जनजातियों में डोरी, ताँत या तार से बजने वाले वाद्य-यन्त्र जैसे तम्बूरा, सारंगी, सितार, वीणा, वायलिन आदि न के समान पाए जाते हैं। तम्बूरा और सारंगी जैसे वाद्य-यन्त्र कतिपय भारतीय जनजातियों में देखने को मिलते हैं। मुँह की हवा से बजने वाले वाद्य-यन्त्र जैसे बाँसुरी, तुरही आदि का प्रचलन जनजातियों में अपेक्षाकृत अधिक हैं जनजातियाँ लकड़ी, सींग, बाँस, मिट्टी आदि नाना पदार्थ से इस प्रकार के वाद्य-यन्त्रों को बनाती हैं कतिपय जनजातियों में नाक से बजने वाले यन्त्र भी पाए जाते हैं। चोट देने से बजने वाले वाद्य-यन्त्र जनजातियों में बहुत अधिक संख्या में पाए जाते हैं। इस प्रकार के यन्त्रों में ढोल, नगाड़ा और ढोलक बहुत लोकप्रिय हैं। घण्टा, घड़ियाल व घुँघरू को भी जनजातियाँ बहुत प्रयोग में लाती हैं। अफ्रीका की कतिपय जनजातियों में एक तरह का पियानो बजाया जाता है जिससे वे लोग ज्खैज्खा कहते हैं। इस यन्त्र में भिन्न-भिन्न नापों की धातु की पट्टियाँ या बाँस की धज्जियाँ इस प्रकार लगाई जाती हैं कि जब किसी पट्टी या धज्जी को अंगूठे से दबाकर छोड़ दिया जाता है तो वह ढोल की तरह आवाज को गुँजाने वाले खोल पर जाकर बजने से इस यन्त्र में से तरह-तरह के स्वर निकलते हैं।

ढोल के जितने नाना प्रकार के रूप जनजातियों में देखने को मिलते हैं उतने और किसी वाद्य-यन्त्र के नहीं होते। किसी खोखली चीज पर चमड़ा मढ़ दिया जाता है। चमड़ा सूख जाने पर उस पर चोट देने से आवाज निकलती है। चमड़ा मढ़ने के लिए जिस खोखली चीज की आवश्यकता होती है उसे जनजाति के लोग मिट्टी, लकड़ी आदि का बना लेते हैं। ढोल का वादन एक अर्थ में उल्लस का प्रतीक है। जनजातियों में खास अवकरों पर उललास की मात्रा जितनी ही बढ़ती जाती है, ढसेल पर चोट भी उतनी ही उन्मत्त होकर की जाती है। अफ्रीका की कुछ जनजातियाँ ऐसे ढसेल बनाती हैं कि एक ही ढसेल के भिन्न-भिन्न भागों पर चोट देने से चार अलग-अलग तरह के स्वर निकलते हैं। कांगों तथा अमेजोन की जनजातियाँ भी ढसेल बनाने में निपुण हैं युद्ध के समय लड़ने वालों को उत्तेजित करने के लिए जनजातियाँ ढोल को उन्मत्त होकर पीटती हैं। इसी प्रकार युद्ध में तुरही का भी प्रयोग किया जाता है। तुरही के स्वर से लड़ने वालों को नाना प्रकार का संकेत भेजा जाता है।

www.ignited.in

उदाहरणार्थ, यदि उन्हें यह कहना है कि 'युद्ध रोक दो' तो तुरही में वे एक विशेष स्वर को उत्पन्न करेंगे, उस स्वर को सुनकर सेना उसका आशय समझ जाती है।

भारतीय जनजातियों में जो वाद्य-यन्त्र प्रयुक्त किए जाते हैं उनमें तम्बूरा व सारंगी की तरह का एक यन्त्र, बाँसुरी, तुरही, बीन, ढोलक, मृदंग, घण्टा और घड़ियाल बहुत ही लोकप्रिय है; यद्यपि इनका वितरण तथा रूप प्रत्येक जनजाति में एक-सा नहीं है।

संगीत के वाद्य-यन्त्रों के सम्बन्ध में एक यह बात स्मरणीय है कि प्रत्येक वाद्य-यन्त्र में उसकी निजी विशेषता है। इसी कारण भिन्न-भिन्न प्रयोजन तथा अवसर के लिए भिन्न-भिन्न वाद्यों की आवश्यकता होती है। जनजातियों में संगीत के वाद्य-यन्त्र युद्ध-क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं, फिर भी प्रत्येक प्रकार के वाद्य-यन्त्र का प्रयोग युद्ध-क्षेत्र में नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ, यह सुना नहीं गया कि युद्ध-क्षेत्र में बाँसुरी का प्रयोग किसी जनजाति ने किया है या कभी किया था। युद्ध-क्षेत्र में इस प्रकार के वाद्य-यन्त्रों को काम में लाया जाता है जिनके स्वर लोगों में जोश व उमंग पैदा कर सकें। इन वाद्य-यन्त्रों को प्रयोग करने का एकमात्र कारण यह था कि इनकी आवाजों को सुनकर योद्धाओं का उत्साहवर्धन होता रहे। कहा जाता है कि दुँदुभी के नाद को सुनकर भीम की भुजाएँ फड़कने लगती थीं और यही दुँदुभी का प्रयोजन था। जनजातियों के लोग भी इस विषय में पर्याप्त सचेत प्रतीत होते हैं क्योंकि अवसर (occasion) भेद के अनुसार वाद्य-यन्त्रों में भी भेद जनजातीय समाज में देखने को मिलता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले वाद्य युद्ध-भूमि के वाद्यों से भिन्न इस कारण होते हैं कि दैनिक जीवन में व्यवहार होने वाले वाद्यों का उद्देश्य योद्धाओं का उत्साहवर्धन करना नहीं, वरन् लोगों का मनोरंजन करना होता है।

आदि-जगत के लोगों को हम प्रायः 'जंगली' कहकर सम्बोधित करते हैं और यह आशा करते हैं कि उनका जीवन असभ्य तथा हिंसक प्रवृत्तियों से भरपूर होगा। परन्तु यह सत्य नहीं है। उनके हृदय में भी अनेक कोमल भावनाएँ तथा विचारधाराएँ होती हैं; उनका हृदय और मस्तिष्क भी प्रेम, प्रीति, विरह, मिलन, आनन्द और आँसू से प्लावित होता है। हृदय की इन अनुभूतियों को संगीतमय करने की शैली उन तथाकथित जंगलियों को भी मालूम होती है। यह सच है कि यह शैली संस्कृति के स्तर से सम्बन्धित है अर्थात् संस्कृति के क्रमिक विकास के साथ-साथ लोक-गीतों को प्रस्तुत करने की शैली में भी उन्नति होती जाती है। आदि-संस्कृति के लोग सरल मनोभाव वाले होते हैं इस कारण उनका गीत को प्रस्तुत करने का ढंग भी बहुत सरल होता है। साधारणतया वे अपने दैनिक जीवन के किसी एक महत्त्वपूर्ण घटना को गीत के विषय के रूप में चुन लेते हैं और फिर उससे सम्बन्धित अपने मनोभाव को सरल ढंग से व्यक्त करते हैं। यही लोकगीत है। लोकगीत की प्रमुख विशेषता स्वतः स्फूर्तता तथा स्वाभाविकता है। वैसे भी संगीत का प्रमुख लक्ष्य लोकरंजन है; जो इस लक्ष्य की सिद्धि में अधिक सफल है, वही अधिक स्वाभाविक है। जो जितना स्वाभाविक है, वह उतना ही लोकगीत के अन्तर्गत आता है। लोक-गीत के सम्बन्ध में डॉ. दुबे ने उचित ही लिखा है, "लोकगीत स्वतःस्पू र्त प्राकृतिक काव्य का अंग है। लोक-गीतों में उनके रचयिता अथवा रचनाकाल का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं होता; उनका महत्त्व तो उनकी सहज रसोद्रेक की शक्ति तथा सरल सौन्दर्य में रहता है। उनमें एक व्यक्ति की अनुभूति की अपेक्षा लोक-हृदय की अनुभूति ही अधिक रहती है। व्यक्ति-विशेष की भावनाओं का प्रतिनिधित्व न कर लोक-गीत समुदाय की भावना के कहीं अधिक सच्चे प्रतीत होते हैं। काल और स्थान की सीमा को लाँघ, लोक-गायकों और गायिकाओं के अधरों पर जीवित रहने वाले ये लोक-गीत अतीत की परम्परा को वर्तमान में भी अंशतः जीवित बनाए रखते हैं। समय के व्यवधान से लोक-गीतों के बाह्य-स्वरूप में तो परिवर्तन अवश्य होते हैं, किन्तु उनके मूल-भाव तथा अभिव्यक्ति की अपने विशेष शैली सामान्यतः अपरिवर्तित ही रहती है।"

लोक-गीत में कविता की विशेषताएँ बहुधा नहीं होती। लोक-गीत में छन्दों का मिलान नहीं होता। यह बात विशेष करके जनजातियों के लोक-गीतों के सम्बन्ध में अधिक सच है। भारतीय गाँवों में जो लोक-गीत गाए जाते हैं उनमें काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी प्रचुर मात्रा में होती है; परन्तु जनजातियों के लोक-गीतों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। फिर भी सभी जनजातियों के सभी लोक-गीतों में काव्यात्मक अभिव्यक्ति का पूर्णतया अभाव होता है, ऐसा सोचना उचित नहीं है। हैदराबाद दक्षिण की चेंचू जनजाति के लोकगीत "प्रायः अस्पष्ट उद्‌गार ही होते हैं; उनमें काव्यात्मक अभिव्यक्ति का अभाव रहता है।" असम की कोनयाग नागा तथा छत्तीसगढ़ की कमार जनजाति के गीतों के सम्बन्ध में भी यह बात कही जा सकती है। परन्तु छोटा नागपुर के संथाल जनजातीय समूह के लोक-गीतों में कविता की विशेषताएँ भी मौजूद होती हैं।

उपरोक्त विवेचना से लोक-गीत की प्रकृति तथा विशेषताएँ बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाती हैं। लोक-गीत के सम्बन्ध में श्री सामर ने लिखा है, "चूँकि लोक-संगीत का सृजन अनन्तकाल से होता आया है, इसका इतिहास बहुत पुराना और प्रचार-क्षेत्र बहुत व्यापक है, इसलिए इसकी अपनी विशिष्ट परम्पराएँ होनी भी स्वाभाविक हैं। सच पूछिए तो जिस लोक-संगीत की परम्पराएँ ही नहीं होतीं, वह लोक-संगीत ही नहीं है। किसी व्यक्ति-विशेष का रचा हुआ गीत जब सामाजिक क्षेत्र में उतरकर समाज की धरोहर बन जाता है

और उस व्यक्ति का व्यक्तित्व उस गीत से हट जाता है तथा समस्त समाज का व्यक्तित्व उस पर अंकत हो जाता है, तभी वह गीत लोक-गीत की श्रेणी में आता है। श्री सामर ने आगे और लिखा है कि न गीतों में भाषा तथा भाव की दृष्टि से क्षेत्रीय तथा जातीय विशेषताएँ अवश्य होती हैं, परन्तु इनकी आत्मा एक होती है और इनका व्यवहार लगभग एक ही प्रयोजन से होता है। ऐसे गीत चूँकि सामाजिक धरोहर होते हैं, इसलिए अधिकतर सामूहिक रूप से ही गाए जाते हैं। लोक-गीतों में वैयक्तिक रूप से गाने की परम्परा लगभग नहीं के बराबर है।

लोक-गीत अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे सामान्य गीत, नृत्य-गीत, उत्सव-गीत, धार्मिक गीत, स्त्रियों के गीत, भिखारियों के या 'बाउल' गीत, विवाह व जन्म-गीत आदि।

श्री सामर ने भारतीय लोक-गीतों को निम्न छः भागों में बाँटा है-

(1) उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह तथा पर्व-समारोह आदि पर गाए जाने वाले गीत, (2) मनोविवाद तथा उमंग के समय गाए जाने वाले गीत, (3) धार्मिक तथा सांस्कृतिक गीत, (4) भजन तथा कीर्तन की गीत, (5) नृत्य तथा नाटकों के साथ गाए जाने वाले गीत, और (6) व्यवसायिक गीत। इन विभिन्न प्रकार के लोक-गीतों का जो विवरण श्री सामर ने दिया है उसका संक्षिप्त सार निम्नवत है-

(1) उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह तथा पर्व आदि में जो लोक-गीत गाए जाते हैं उनकी संख्या अनगिनत है। ये गीत प्रायः सभी जातियों, समुदायों तथा व्यक्तियों द्वारा गाए जाते हैं। ये गीत चूँकि बड़े दायरे में बड़ी तादाद द्वारा लम्बे समय तक गाए जाते हैं इसलिए इनकी स्वर-रचना सरल, शब्द-चयन छोटा और लय सादी तथा गतिशील होती है। ये गीत विशिष्ट त्योहारों, पर्वों तथा मांगलिक अवसरों के साथ सांस्कृतिक रूप से जुड़े होते हैं। इनको गाए बिना वह पर्व या त्योहार अधूरा ही समझा जाता है। इन गीतों में विवाह के बधावे, द्वाराचार, सम्बन्धियों की गालियाँ, फेरा या विदाई के क्षण मूर्त्त हो उठते हैं। तीज, राखी, होली आदि पर्वों तथा त्योहारों पर ये विशेषकर गाए जाते हैं।

(2) उमंग तथा मनोविनोद के समय गाए जाने वाले लोक-गीतों की पसन्द चूँकि मनुष्य के विशिष्ट हास-उल्लास के क्षणों पर अवलम्बित रहती है इसलिए इनका प्रचार-क्षेत्र बहुत लम्ब-चौड़ा नहीं होता और न इन्हें अधिक व्यापक रूप से गाया ही जाता है। चूँकि इनका सम्बन्ध मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों से अधिक है, इसलिए इनका गीतिक पक्ष अधिक प्रबल होता है। इन गीतों में कल्पना की उड़ाने अधिक और स्वरों की रचना राग की दृष्टि से बहुत ही मधुर होती है। राजस्थानी लोक-गीत में इस श्रेणी के अन्तर्गत् गोंरबन्ध, पनिहारी, इन्डोणी, अलेची, पीपली, हिचकी, काजली, चौमासा, झूला, पोमचे, बादली, सपना, पादीना आदि प्रमुख हैं।

(3) धार्मिक तथा सांस्कृतिक लोक-गीत भी उत्सव, त्योहारों आदि पर गाए जाने वाले गीतों की तरह व्यापक और लोकप्रिय होते हैं, परन्तु इनके साथ देवी-देवताओं की पूजा-पाठ की विधियाँ, परम्पराएँ विश्वास आदि जुड़े रहने के कारण ये गीत मन्त्र-तन्त्र आदि की तरह कुछ रूढ़िवादी हो गए हैं। किसी विशिष्ट धार्मिक क्रिया के समय ये गीत नहीं गाए जायँ तो अपशकुन-सा माना जाता है। ये गीत प्रचलित और व्यापक इसलिए हैं कि इनके साथ सैकड़ों वर्षों की धार्मिक परम्पराएँ जुड़ी हुई हैं।

(4) धार्मिक तथा सांस्कृतिक लोकगीतों की श्रेणी में भजन तथा कीर्तन को नहीं रखा गया है। इसका कारण, श्री सामर के अनुसार, यह है कि इनमें प्रकृति, रचना तथा व्यवहार की दृष्टि से काफी भिन्नता है। भजन-कीर्तन में कोई संकीर्णता, साम्प्रदायिकता तथा अन्धपरम्परा नहीं है। इनका प्रचार एवं प्रभाव-क्षेत्र अधिक व्यापक है। इन गीतों में धार्मिक तथा आध्यात्मिक उच्च भावनाएँ अंकित रहती हैं। इनका काव्य तथा सांगीतिक पक्ष भी उनसे अधिक मधुर होता है। इन गीतों का लयपक्ष तो सभी लोकगीतों से अधिक प्रबल होता है।

(5) नृत्य तथा नाटकों के साथ गाए जाने वाले लोक-गीत अनेक लोकप्रिय कथाओं के साथ जुड़े होने के कारण इनकी लोकप्रियता बहुत बढ़ी हुई होती हैं। इन गीतों का साहित्यिक पक्ष अत्यन्त दुर्बल होता है, तथा संगीत-पक्ष प्रबल।

(6) लोक-गीत की परिभाषा के अनुसार, किसी भी लोक-गीत को व्यवसायिक नहीं होना चाहिए। यदि वह व्यवसायिक हो जाता है, तो उसका लोक-पक्ष निश्चय ही दुर्बल होता है। परन्तु कुछ सामाजिक कारणों से भारतवर्ष के विभिन्न भागों में कुछ समूह ऐसे बन गए हैं जिनका व्यवसाय ही नाच-गाकर आजीविका उपार्जन करना हो गया है। चूँकि गाना-बजाना तथा नाचना उनका व्यवसाय हो गया है, इसलिए उन्में

www.ignited.in

थोड़ी-सी क्लिष्टता तथा चमत्कारिता होना स्वाभाविक है। उनकी गायन-विधि में थोडा-सा व्यवसायिक गुण यदि नहीं हो, तो आश्रयदाता अथवा यजमान उनकी कभी माँग ही न करें। ऐसे गीतों कोगाने वाले अनेक जातियाँ राजस्थान में पाई जाती हैं। ये गीत ढोला, मिरासी, कामड़, सरगड़े, राव, भाग, ढाढी, भांड, भवाई आदि व्यवसायिकर जातियों की धरोहर बन गए हैं जिनमें कला-पक्ष की दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो रही है और उनके गाने की शैली भी शास्त्रीय गीतों के ढंग की बनती जा रही है।

लोकगीत अपनी सरलता और स्वाभाविकता के कारण ही मोहक होता है। इसमें अलंकार, छन्द, शब्द-चयन आदि का आडम्बर तो निश्चय ही नहीं होता है, परन्तु इसके माध्यम से जो लोक-परम्परा झाँकती है उसकी तुलना शायद किसी से भी नहीं की जा सकती, इसीलिए लोकगीत कामहत्त्व भी असीम हो जाता है। लोकगीत समाज की धरोहर ही नहीं, लोकजीवन का दर्पण भी है। लोक-गीतों का अध्ययन करके हम समस्त समाज के व्यक्तिव का, अर्थात् एक समाज-विशेष की विशिष्टताओं का परिचय पा सकते हैं। इन गीतों के साथ जन-मानस की आतमा अंकित होती है और उन्हें बड़े रस के साथ लोग गाते हैं। उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह तथा पर्व-समारोह के अवसरों पर इनके बिना सभी आनन्द-क्षण फीके होते हैं। इसी प्रकार मनोविनोद तथा उमंग के समय गाए जाने वाले लोक-गीतों का अपना महत्त्व है। ये गीत विशिष्टजनों के मनपसन्द होते हैं तथा मौज, मजे, आनन्द, उल्लास और विनोद के क्षणों में तो गाए जाते ही हैं परन्तु ऋतुओं के सौन्दर्य के साथ भी इनका सौन्दर्य जुड़ा होता है जो मन को एक अनिर्वचनीय आनन्द और तृप्ति से भर देता है और जीवन की वास्तविकताओं का सामना करने की अनन्त प्रेरणाएँ प्रदान करता है। इसी प्रकार धार्मिक तथा सांस्कृतिक लोकगीतों को लीजिए। "इन गीतों में मानव-जीवन के उच्च-आदर्शों तथा भगवान् की अपार शक्ति की ओर संकेत होता है। सांस्कारिक गीतों यदि मनुष्य की अन्ध-परम्परा और उसके जीवन की अत्यधिक चिन्ता व्यक्त होती है तो भजन-कीर्तनों में उसे इन वृत्तियों से मुक्त करने की चेष्टा होती है। मनुष्य जब जीवन के संताप और उसकी सीमाओं से कुण्ठित हो जाता है, तो वह सांस्कारिक लोकगीतों की शरण लेता है। पन्तु भजन-कीर्तनों में मनुष्य-जीवन का निराश पक्ष प्रधान होता है, फिर भी इनमें जीवन के संतापों से व्यथित तथा भयभीत होने की प्रेरणा नहीं है। भजन-कीर्तनों से मनुष्य को एक आध्यात्मिक आनन्द मिलता है और उसे जीवन के संतापों को झेलने की ताकत मिलती है। पिछले तीन-चार सौ वर्षों में पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन में अनेक निराशाओं का समावेश होने के कारण इन गीतों का महत्त्व और भी बढ़ गया है।"

अतः स्पष्ट है कि मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों की सरल तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति लोक-गीतों में जितनी मिलती है उतनी और किसी में नहीं। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने सच ही कहा है, "भारत का कोई भी चित्र भारतीय प्रथाओं, रीति-रिवाजों और हमारे आन्तरिक जीवन की मनोवैज्ञानिक गहराई को इतने स्पष्ट तथा सशक्त ढंग से व्यक्त नहीं कर सकता, जितना लोक-गीत कर सकते हैं।" इसीलिए अगर हम भारतवर्ष के विभिन्न सांस्कृतिक समूहों से परिचित होना चाहता हैं तो उनके लोक-गीतों का अध्ययन आवश्यक है। लोक-गीतों के इस महत्त्व की अवहेलना सामाजिक मानवशास्त्र का कोई भी विद्यार्थी नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि आम जनता की स्वाभाविक व्यवहार प्रणाली किस भांति ह उनकी प्रथा व परम्परा की अनिवार्य दिशा क्या है या रही है, उनके विश्वासों तथा विचारों की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं, इन सब मानव-शास्त्रीय विषयों का विश्लेषण तथा निरूपण लोक-गीतों के अध्ययन के बिना असम्भव है। डॉ. दुबे ने लिखा है, "वेद और स्मृतियाँ भारतीय संस्कृति के जिन पक्षों के सम्बन्ध में मौन हैं लोक-गीत अंशतः उनके सम्बन्ध में कुछ कह सकते हैं। आर्येत्तर सभ्यता की अनेक प्रथाएँ, जो आर्य-प्रभुत्व की स्थापना के बाद भी भारत में बनी रहीं, लोक-गीतों की सहायता से समझी जा सकती हैं। इतिहास के अन्धेरे प्रष्ठों को भी लोक-गीत और लोक-कथाओं से यदा-कदा प्रकाश की कुछ किरणें मिल सकती हैं। यद्यपि लोक-गीत में किसी घटना का वर्णन होना ही इतिहास के लिए प्रमाण नहीं माना जा सकता, फिर भी लोक-गीतों की दिशा-संकेत के आधार पर इतिहास-अन्वेषक अपने कार्य को आगे बढ़ा सकता है।"

शरीर की गतियों द्वारा उत्पन्न 'सुन्दर अभिव्यक्ति' को नृत्य कहते हैं। यह गति हाथ, पैर, आँख, शरीर के किसी अन्य अंग या सारे शरीर की हो सकती है। परन्तु केवल हाथ पैर हिलाने से ही वह नृत्य नहीं हो जाता है जब तक वह गति ताल और लय के नियमों के अनुसार अर्थपूर्ण रूप से अभिव्यक्त न हो। नृत्य में शरीर या उसके किसी अंग की प्रत्येक गति नृत्य देखने वाले तक एक विशिष्ट भाव को पहुँचा देती है। इसे नृत्य की 'मुद्रा' कहा जाता है। नृत्य की एक मुद्रा देखकर एक दर्शक कह सकता है उससे क्रोध का भाव अथवा उल्लास का भाव प्रकट रहा है।

नृत्य में शरीर की एक 'विशिष्ट' गति होती है। विशिष्ट इस अर्थ में कि नृत्य में शरीर की गति मनमाने ढंग से नहीं होती। इन गतियों में संगीत की भांति ताल (rhythm) होती है। यह ताल या तो केवल शरीर की गति द्वारा होती है या ढोल, तबला, मृदंग आदि किसी एक वाद्य-यन्त्र या एकाधिक वाद्य-यन्त्रों का स्वर इसके साथ मिला रहता है। नृत्य के साथ-साथ संगीत गाया जा सकता है और नहीं भी गाया जा सकता है। आधुनिक नृत्य में विशुद्ध शरीर-मुद्राओं द्वारा समस्त भावों को व्यक्त करने का

प्रयत्न किया जाता है। परन्तु फिल्मी नृत्यों में बहुधा नृत्य के साथ संगीत का भी समन्वय किया जाता है। आदिवासी लोग भी नाच और गाने दोनों को ही सुन्दर ढंग से मिला देते हैं।

नृत्य संसार के सभी देशों व हर काल में पाया जाता है। मानव जब उल्लसित हो उठता है तो वह अपने उल्लास को नाना प्रकार से प्रकट करना चाहता है। नृत्य भी उस उल्लास को प्रकट करने का एक साधन है। केवल उल्लास ही नहीं अन्य प्रकार के मनोवभाव को भी नृत्य के माध्यम से प्रकट किया जा सकता है। आदिवासियों में नृत्य की लोकप्रियता सभ्य समाज से कहीं अधिक है। वहां तो बच्चा-बच्चा नृत्य का शौकीन होता है। जनजातीय समाजों की परम्परा के अनुसार उनके प्रत्येक उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह, पर्व-समारोह, मनोविनोद एवं उमंग के समय तथा धार्मिक एवं सांस्कारिक समारोह का नृत्य एक अनिवार्य अंग है। इसके बिना सभी आनन्द-क्षण फीके होते हैं।

जनजातीय समाजों में उत्सव, त्योहार आदि के अवसर पर स्त्री-पुरुष सब मिलकर नाचते-गाते हैं। नाचते समय वे लो प्रायः घेरा बनाकर नाचते हैं। दो पंक्तियों में आमने-सामने खड़े होकर भी नाचा जाता है। इन पंक्तियों में किसी-किसी समाज में स्त्री-पुरुष मिल-जुलकर नाचते हैं। ऐसी दशा में प्रत्येक पंक्ति में स्त्री और पुरुष दोनों ही होते हैं। पर किसी-किसी जनजातीय समाज में एक पंक्ति केवल पुरुषों की होती है और दूसरी केवल स्त्रियों की। जोड़े में नाचने की रीति भी अनेक जनजातीय समाजों में लोकप्रिय है। अण्डमानी-लोगों में स्त्रियाँ नृत्य में सम्मिलित नहीं होतीं। पॉलीनेशिया, अफ्रीका आदि में नाचते हुए घेरा बनाने की रीति है। वे लोग नाचते हुए बहुधा दो घेरे बना लेते हैं-स्त्रियाँ अन्दर के घेरे में और पुरुष बाहर के घेरे में आ जाते हैं।

वास्तव में प्रत्येक जनजाति में नृत्यका अपना-अपना तरीका होता है, फिर भी इन समाजों में सामूहिक नृत्य का अधिक प्रचलन है। सामूहिक नृत्य भी अनेक प्रकार से किए जाते हैं। उदाहरणार्थ, पॉलीनेशिया के लोग बैठे-बैठे शरीरकी गतियाँ करते हैं; उत्तर-पश्चिम तटवर्ती इण्डियन प्रत्येक ताल पर घुटने झुकाकर, हथेली सामने कर और शिरोभाग को कम्पन देते हुए नाचते हैं। कहीं-कहीं पर एक-दूसरे की कमर पकड़कर नाचा जाता है और किसी-किसी समाज में नाचने के दौरान में उछल-कूद का बोलबाला होता है।

जनजातियों में 'अनुकरण-नृत्य' (mimetic dancing) का अधिक प्रचलन है। वे तरह-तरह के चेहरे लगाकर अपने को शिकारी, जादूगर, राजा अथवा कोई जानवर के रूप में अपने को प्रस्तुत करते हैं और फिर उसी के अनुसार नृत्य करते हैं। अगर वह राजा के रूप में अपने को प्रस्तुत करता है तो राजा के प्रमुख व्यवहारों की नकल वह करता है और नाचते हुए नाना-प्रकार की अंग-भंगिमा के द्वारा उसे व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। अगर वह शिकारी के रूप में नृत्य करता है तो वह नृत्य के द्वारा शिकार करने, कि शकार पँ साने तथा उसे मारने की विभिन्न प्रक्रियाओं को प्रस्तुत करता है। बुशमैन, ऑस्ट्रेलिया, कैलिफ़ोर्निया तथा भारत की कुछ जनजातियाँ इस प्रकार के नृत्य में बहुत कुशल होती हैं।

भारत के विभिन्न राज्यों में लोक-नृत्य के असंख्य रूप देखने को मिलते हैं। इनमें नृत्य-भंगिमा, छन्द, गीत, वाद्य-यन्त्र व साज-पोशाक में जो विलक्षणता और अन्तर देखने को मिलता है उस आधार पर किसी भी राज्य या प्रदेश के लोक-नृत्य की श्रेष्ठता का विचार करना वास्तव में कठिन कार्य है। उदाहरणार्थ, काठियावाड़ के रास-नृत्य की तुलना अगर उत्तरी-पूर्वी प्रान्त के नागा सम्प्रदाय के नृत्यों के साथ की जाए तो हम यह देखेंगे कि इन दोनों प्रकार के नृत्यों में बहुत अधिक अन्तर है। साधारण दर्शक रास-नृत्य को ही अधिक उत्तम मान लेंगे परन्तु नागा लोगों के नृत्य में जो एक सहज और सरल छन्दमय माधुर्य है उसकी उपेक्षा भी शायद ही की जा सकती है। वास्तव में बाहरी भेद होते हुए भी सभी भारतीय लोक-नृत्यों की कुछ सामान्य विशेषताएँ हैं जिन्हें निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है-

अधिकतर भारतीय लोक-नृत्य दलबद्ध सामाजिक नृत्य हैं। ये नृत्य व्यवसायिक नृत्य नहीं हैं। व्यवसायिक नृत्य में थोडा-बहुत चमत्कार या तड़क-भड़क होनी स्वाभाविक है, ताकि दर्शकों का ध्यान आकर्षित हो। लोक-नृत्य में यह नहीं होता। अन्य शिल्प-कलाओं की भांति लोक-नृत्य का उद्देश्य भी समाज के सामूहिक जीवन का पूर्णता प्रदान करना है। इस कारण इसका कलाकार नृत्य में अंश ग्रहण करता है, दूसरों का ध्यान आकर्षित करने या आजीविका-पालन करने के लिए नहीं बल्कि आत्म-संतोष तथा आत्म-विनोद के लिए।

दलबद्ध लोक-नृत्य एकता और समरूपता का नृत्य है। यह है एक साथ, एक छन्द में सबका नृत्य। इसीलिए नाचते समय सबका हृदय एक प्रकार की एकता और मिलन के सूत्र में बंध जाता है। नृत्य में जो लोग भाग लेते हैं वे विभिन्न आयु, विचार तथा मनोवृत्ति के आदमी होते हैं। परन्तु नाचने के समय मन तथा शरीर की ये सब चिन्ताएँ स्वतः ही दूर हो जाती हैं और वे सब अपने भेद-भाव को भूलकर एक तन और एक मन होकर नृत्य में भाग लेते हैं। एकता का वातावरण लोक-नृत्य की ही नहीं, सम्पूर्ण समाज की एक अमूल्य सम्पदा है, क्योंकि सामाजिक संगठन के दृष्टिकोण से यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

www.ignited.in

छन्द की गति लोक-नृत्य की एक विशेष उल्लेखनीय वस्तु है। नृत्य का प्रारम्भ किसी भी लय से क्यों न हो, परन्तु उसके बाद धीरे-धीरे छन्द की गति बढ़ती रहती है। किन्तु यह परिवर्तन इतने सहज व स्वाभाविक ढंग से होता है कि नृत्य में भाग लेने वाले लोग उसे अनुभव ही नहीं करते। द्रुत छन्द की गति के समय नाचने वालों को काफी शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है परन्तु उस समय वे लोग नृत्य के आनन्द-सागर में इस भाँति डूबे रहते हैं कि शारीरिक परिश्रम का प्रश्न ही उनके मन में नहीं उठता है। छन्द की गति बढ़ने का भी यही कारण है। लोगों में धीरे-धीरे आनन्द की धारा जोश के रूप में एकत्रित होती रहती है जिनकी बाहर अभिव्यक्ति छन्द की गति ला देता है जो धीरे-धीरे बढ़ता ही चला जाता है। भरपूर आनन्द में शिल्पी झूमता रहता है। लोक-नृत्य की यही सार्थकता है।

भारत का अधिकतर लोक-नृत्य, गीत तथा ताल देने वाले वाद्य-यन्त्रों के साथ प्रस्तुत किया जाता है। इनमें केवल ताल देने वाद्य-यन्त्र (जैसे-ढोल, ढोलक, मृदंग आदि) ही नहीं, बल्कि अन्य प्रकार के वाद्य-यन्त्र, जैसे बाँसुरी, शहनाई, तुरही आदि का भी सम्मिजन बहुधा होता है। परन्तु ऐसे भी लोक-नृत्य होते हैं जिनमें किसी भी प्रकार के वाद्य-यन्त्र का प्रयोग नहीं किया जाता; केवल नाचने वाले मुँह से या ताली बजाकर ताल देते रहते हैं। भिन्न-भिन्न तरह के नृत्यों के साथ अलग-अलग तरह के गीत गाए जाते हैं। इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि इन गीतों के भाव के साथ दलबद्ध लोक-नृत्य का कोई सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् गीत के शब्दों से जो अर्थ प्रकट होता था उसी अर्थ को नृत्य की मुद्राओं या अंग-भंगिमाओं के माध्यम से प्रकाशित करने का प्रयत्न नहीं किया जाता।

लोक-नृत्य में प्रयोग की जाने वाली पोशाक में जातीय तथा क्षेत्रीय विशेषताएँ अवश्य ही होती हैं। ऐसे भी भारत के प्रत्येक प्रदेश में वेश-भूषा में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। नृत्य के समय भी शिल्पी अपने प्रदेश की विशिष्ट वेश-भूषा को ही शोभन व सुन्दर रूप में पहनते हैं। नृत्य के समय शिल्पी अपनी सामर्थ्य के अनुसार नाना रंग की तथा नाना प्रकार की बेल-बूटेदार वेश-भूषा को व्यवहार करते हैं। ये पोशाकें दैनिक जीवन में नहीं पहनी जातीं।

भारतीय लोक-नृत्य बहुधा गोंल घेरा बनाकर नाचा जाता है; परन्तु कभी-कभी एक या एकाधिक पंक्ति बनाकर भी नाचा जाता है।

लोक-नृत्य के साथ जो लोग वाद्य-यन्त्रों को बजाते हैं वे आधुनिक नृत्य में बाजा बजाने वालों की भाँति एक कोने में या पर्दे की ओट में बैठकर वाद्य-यन्त्रों को नहीं बजाया करते। उनका इससे कहीं अधिक सक्रिय भाग-नृत्य में होता है। यह भी कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण नृत्य में वे एक अभिन्न अंग के रूप में क्रियाशील रहते हैं। वे नाचने वालों के बीच, सामने, बगल या उनके चारों ओर उपस्थित रहकर वाद्य-यन्त्रों को बजाते हुए अपने शरीर के विभिन्न अंगों को प्रायः उसी प्रकार हिलाते रहते हैं जैसा नाचने वाले कर रहे हैं।

सहायक सन्दर्भ ग्रंथ सूची

सामाजिक मानव शास्त्र की रूपरेखा – रवीन्द्र नाथ मुर्खजी

सामाजिक मानव शास्त्र - जी0के0 अग्रवाल

सामाजिक मानव विज्ञान – प्रो0 ए0 आर0 ए0 एन0 श्रीवास्तव

भारतीय सामाजिक समस्यायें – जी0 आर0 मदन

जनजातीय समाज का समाजशास्त्र – महाजन व महाजन

सामाजिक मानव शास्त्र – शर्मा एण्ड गुप्ता

Corresponding Author

Dr. Anju Srivastava*

Associate Professor, Department of Sociology, Arya Kanya Degree College, Prayagraj (UP)

dr.anju.shri@gmail.com